लेख

ज्ञान की अपनी सोची समझी वैचारिक प्रक्रिया होती है जिसके राजनैतिक-सामाजिक निहितार्थ होते हैं। ज्ञान के खाते में किसे शामिल किया जाये और किसे नहीं, वह इन्ही निहितार्थों से तय होता है। कोई भी शिक्षा व्यवस्था इन (हित-चिंताओं) की सरमायादारी में ही फलती-फूलती (?) है। इस लेख में इन्हीं हित-चिंताओं की तफसील से पड़ताल की गई है। लेकिन लेखक ने सामाजिक जड़ता की जो व्याख्या की है; वह जड़त्व के वैज्ञानिक नियम के बजाय वर्चस्व की राजनीति और अर्थनीति से ज्यादा बेहतर व्याख्यायित होती। अस्तु।

ज्ञान का राजनैतिक अर्थशास्त्र

❑ अजय कुमार सिंह

भारतीय समाज के लिए पिछले कुछ वर्ष इस मायने में काफी महत्वपूर्ण रहे कि पहली बार भारतीय समाज में पढ़ाए जाने वाले विषय-वस्तु पर व्यापक तौर से चर्चा की गई। इसमें शिक्षा की बहस उसके संख्यात्मक पहलू पर तो हुई ही, साथ ही उसके 'गुणात्मक पहलू' पर भी विमर्श हुआ। 1993 में दिया गया सर्वोच्च न्यायालय का फैसला हो या 1996 में राज्य सभा के पटल पर रखा गया '83 वां संविधान संशोधन विधेयक' या फिर मजुमदार कमेटी द्वारा शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने में होने वाले खर्चे का आकलन-हाशिये पर ही सही, लेकिन यह सब राष्ट्रीय विमर्श का हिस्सा रहा। 93 वां संविधान संशोधन विधेयक आया और फिर बाद में एक तबके द्वारा उसका विरोध इस आधार पर किया गया कि यह हमारे पहले से मौजूद शिक्षायी अधिकारों का हनन करेगा।[1] ये तमाम स्थिति भारतीय समाज में 'शिक्षा' को लेकर बनी हुई वैचारिक भूख को दर्शाती है। लेकिन 'शिक्षा' पर होने वाला यह विमर्श भी शिक्षा की परिभाषा को उसकी 'संस्थायी जड़ता' से बाहर नहीं ले जा सका। नतीजतन 'शिक्षा' की बात अक्षर में सिमटे हुए ज्ञान की जद से बाहर नहीं जा सकी। यद्यपि राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने 'शिक्षा' के साथ गुणवत्ता के प्रश्न जोड़कर इस पूरी बहस को एक ऐतिहासिक मोड़ दे दिया है।[2] यह समूची बहस इस बात की मांग करती है कि 'ज्ञान' की प्रकृति की एक सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक पड़ताल की जाये।

यहां इस बात की जरूरत महसूस होती है कि उन प्रक्रियाओं की एक ऐतिहासिक पड़ताल की जाये जो ज्ञान की राजनीति और उसके ताने-बाने को समझा सके। अगर हम किसी विकल्प पर विचार करें तो एक बार फिर गांधी और तत्कालीन सामाजिक मंथन में उपजे वर्धा शिक्षा योजना पर विचार करने की जरूरत महसूस होती है।[3]

ज्ञान किसे कहा जाये; यह एक राजनैतिक और सत्तागत प्रश्न है। कम से कम शिक्षा के संदर्भ में प्रचलित व्यवहारों के इतिहास का विश्लेषण तो यही बताता है। समाज के किस हिस्से के अनुभव को ज्ञान कहा जाये और 'शिक्षा की प्रक्रिया' में शामिल किया जाये; यह सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि 'शिक्षाई-संरचना' किस वर्ग के राजनैतिक और सत्ताई नियंत्रण में है। यह नियंत्रण एक ओर जहां मूर्त-सी दिखने वाली सत्ता प्रक्रिया के जरिये होता है, तो वहीं दूसरी ओर ऐतिहासिक तौर से चली आ रही वह अमूर्त प्रक्रियायें भी इसमें शामिल होती हैं जो कि सामाजिक जड़ता का परिणाम होती हैं।[4] इसलिए संस्था से बाहर रहकर या संस्थाओं को तोड़कर शिक्षा की बात करना, समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण से कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है।[5]

वर्तमान-भारतीय शिक्षा के संदर्भ में बात करें, तो पाते हैं कि इसकी संरचना पर दो ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का प्रभाव एक समझौते के रूप में दिखता है। एक, सदियों से चली आ रही 'ब्राह्मणवादी ज्ञान की संरचना' और दूसरी, औपनिवेशिक शासकों की तात्कालिक जरूरत। इस संदर्भ में 'बुनियादी शिक्षा व्यवस्था' को रखकर देखने से ज्ञान की इस राजनीति का और ज्यादा खुलासा होता है। क्योंकि जैसे ही ज्ञान के केन्द्र से 'अक्षर' को हटा कर आप किसी 'हस्तशिल्प' को रखने की बात करते हैं, वैसे ही एक लम्बे समय से चली आ रही ब्राह्मणवादी व्यवस्था तो चरमराती ही है[6] इसके अलावा उत्पादन पर केन्द्रीय नियंत्रण से बना हुआ वह ढाँचा भी टूटता है, जिसके जरिये ऐसी ही सत्ता की नव-व्यवस्था यानी कि पूंजीवाद का कारोबार चलता है। लेकिन बुनियादी शिक्षा व्यवस्था का लागू होना तो दूर रहा, उस पर एक पर्याप्त 'समझ' तक नहीं बनी। न ही उस ऐतिहासिक चेतना की कोई झलक आज हम 'अपनी' शिक्षा व्यवस्था में देख पाते हैं। ज्ञान का सवाल ऐतिहासिकता से तो जुड़ता ही है, वह

वर्तमान 'व्यवस्थाओं' में भी रचे-बसे वर्चस्व का प्रतिनिधित्व करता है।

वर्धा शिक्षा सम्मेलन और उसके बाद

बुनियादी शिक्षा की संकल्पना अवधारणात्मक स्तर पर काफी हद तक उस वर्चस्व को तोड़ती थी, जिसे ज्ञान की राजनीति कहा जाता है। लेकिन समय के साथ-साथ यह प्रक्रिया भी राजनीति का शिकार हो गयी। बुनियादी शिक्षा को दरकिनार करने में आजादी के पहले तथा बाद की सरकारों में भेदभाव नहीं किया जा सकता। 1813 के ब्रिटिश आज्ञा पत्र के साथ शुरू हुई शिक्षा प्रणाली ने 20 वीं सदी आते-आते समूचे 'भारत' को अपनी गिरफ्त में ले लिया। 20 वीं सदी के आरंभिक वर्षों में उसका परिणाम कुछ इस तरह सामने आया कि लोगों ने इस औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली के इतर सोचना लगभग बंद कर दिया। उस समय चल रहे राष्ट्रीय विद्यापीठ नाम-मात्र को ही देशज थे क्योंकि उनकी शिक्षा पद्धति, परीक्षा प्रणाली तथा पढ़ाई जाने वाली विषयवस्तु के अधिकांश भाग आयातित ही थे। जिन लोगों ने इस तरह की शिक्षा पद्धति का विकास किया उनका एक मात्र मकसद भारत को एक 'आदर्श शासित क्षेत्र' बनाने का था। यद्यपि साम्राज्यवादियों का यह लक्ष्य अमानवीय था, तथापि हमें ये मानना पड़ेगा कि शिक्षा को किसी लक्ष्य को साधने के साधन के रूप में जितना बखूबी इस्तेमाल इन साम्राज्यवादियों ने किया, उतना सक्रिय और संगठित प्रयास देशज शक्तियों का नहीं था।

उत्पादक दस्तकारी के माध्यम से सिखाने का एक बड़ा मानसिक प्रभाव ये तो पड़ता ही है कि बच्चा शारीरिक श्रम को भी प्रतिष्ठित मानना शुरू कर देता है। अगर शिक्षा को हम एक बेहतर सामाजिक जीवन के साधन के रूप में देखते हैं तो करोड़ो लोगों द्वारा किए जाने वाले 'हाथ के काम' को शिक्षा के केन्द्र में रखना होगा। वरना 'समाजोपयोगी उत्पादक कार्य' को पाठ्यचर्या के हाशिये पर रखकर भ्रम ही पैदा किया जा सकता है, जैसा कि राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् बखूबी से करता रहा है।

इस तथ्य को कि- शिक्षा बदलाव का एक महत्वपूर्ण साधन हो सकती है- महात्मा गांधी ने बखूबी पकड़ा और भारतीय राजनीति में आगमन के साथ ही उन्होंने कहा कि ''शिक्षा को भारतीय स्वाधीनता का वाहन होना चाहिए।'' इसी समय शिक्षायी जगत में इस बात की जबरदस्त जरूरत महसूस की गई कि देश में अलग-अलग चल रही शैक्षिक प्रक्रियाओं को राष्ट्रीय भावनाओं के मद्दे नजर जोड़ा जाए। इसी समय स्वतंत्रता संघर्ष से उपजे आदर्शों को पूरा करने के लिए एक देशज 'राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था' की कल्पना को साकार करने के प्रयास शुरू हो गए। वर्धा मारवाड़ी शिक्षा मण्डल की रजत जयंती के अवसर पर 22-23 अक्टूबर 1937 की 'अखिल भारतीय शिक्षा परिषद' की बैठक इस प्रक्रिया की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थी। दो दिन तक चली इस वैचारिक गोताखोरी के परिणामस्वरूप निकल कर सामने आई- बुनियादी शिक्षा पद्धति।

आजादी के तत्काल बाद, मुख्यतौर पर हमारे पास दो अलग-अलग तरह की शिक्षा-व्यवस्था अपनाने के विकल्प थे। पहली, उपनिवेशकालीन अवशेष का वह ढांचा जो अक्सर 'शिक्षा व्यवस्था' होने का भ्रम दिलाता था (इस बात पर एक क्रियात्मक विचार की जरूरत है कि विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के नाम से संबोधित संस्थायें क्या 'शिक्षा के दर्शन' पर खरी उतरती हैं ?)। दूसरे विकल्प के तौर पर हमारे पास 1937 के वर्धा शिक्षा योजना से निकली बुनियादी शिक्षा पद्धति थी। इस पद्धति का विकास राष्ट्रीय आकांक्षाओं एवं परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया गया था। 'वातावरण से सीखने' के सिद्धांत को केन्द्र में रखकर बनाई गई ये शिक्षा-पद्धति, आजादी के समय तक, पूर्व बुनियादी शिक्षा से ग्राम विश्वविद्यालय तक का सफर तय कर एक वृहत रूप धारण कर चुकी थी। पूर्व बुनियादी शिक्षा जहां 7 वर्ष से छोटे बच्चों के शिक्षा की बात करती थी, वहीं उत्तर बुनियादी शिक्षा, सात वर्षीय बुनियादी शिक्षा के बाद की कड़ी थी और अन्ततः ग्राम विश्वविद्यालय के माध्यम से उच्च शिक्षा को गांवों से जोड़ने की बात कही गयी थी। इन सबके बावजूद बुनियादी शिक्षा पद्धति को एक ओर ढकेलना एक खोज-बीन का विषय है। वो भी तब जब इस शैक्षिक सिद्धांत के तमाम निर्माता सत्ता के गलियारों में अपनी मजबूत पकड़ बनाए हुए थे। शिक्षा के मर्म को समझने वाले शिक्षाशास्त्रियों का लगातार यह मानना रहा है कि वह 'शिक्षा-व्यवस्था' किसी भी समाज के लिए सबसे उपयुक्त होती है जो सामाजिक मंथन के फलस्वरूप संगठित हुई हो। ऐसी स्थिति में होना यह चाहिए था कि बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था का आधार बनाया जाता; लेकिन ऐसा हुआ नहीं। 'व्यवहारिकता' शब्द का प्रयोग करते हुए तमाम राष्ट्रीय आदर्शों को एक ओर रख दिया गया और उपनिवेशवाद की नींव के तौर पर बनाई गई शिक्षा-व्यवस्था को जारी रखा गया। चूंकि ये तमाम क्रिया-कर्म तथाकथित गांधीवादियों द्वारा किया जा रहा था। इसलिए कुछ जगह सुरक्षा कवच के तौर पर बुनियादी शिक्षा का ढोल पीटा जाना जारी रहा। अपवाद हमेशा नियमों को पुष्ट करते हैं। सेवाग्राम में 1952 में आरंभ किया गया 'ग्राम-विश्वविद्यालय' इसी अपवाद का एक बेहतर नमूना मात्र है।

1937 में वर्धा शिक्षा-परिषद् के स्वीकृत प्रस्तावों पर गौर करें तो पाते हैं कि परषिद् ने अपने पहले प्रस्ताव में, बच्चों के लिए सात साल की मुफ्त एवं लाजमी तालीम की बात कही थी। संविधान निर्माण के समय बच्चों को यह अधिकार दिलाने के लिए राज्य को दस वर्ष का समय दिया गया, जो आज तक पूरा नहीं हो सका। परिषद् का दूसरा प्रस्ताव, मातृभाषा के जरिये शिक्षा देने का था। बकौल गांधी- देश का बहुतेरा श्रम अंग्रेजी का अधकचरा ज्ञान हासिल करने में व्यर्थ हो जाता है- इस कटु सत्य को जानने के बावजूद मातृभाषा शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकी। कारण साफ था। कहने को तो प्रत्येक राज्य सरकार ने देशी भाषाओं के प्रोत्साहन की बात की। लेकिन उच्च शिक्षा हासिल करने के मौके नौकरी पाने इत्यादि में जिस तरह से अंग्रेजी की वरीयता जारी रही, उसने 'मातृभाषा में शिक्षा' को दोयम दर्जे की शिक्षा बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। परिणामत: समाज का नियंत्रण अंग्रेजी दीक्षित लोगों के हाथों में बना रहा। इस शिक्षा विमर्श की हजारों तकनीकी बातों को समेटता परिषद् का तीसरा प्रस्ताव शिक्षा के केन्द्र में किसी किस्म की उत्पादक दस्तकारी रखने का था। उसके साथ यह भी कहा गया था कि इस उत्पादक दस्तकारी का चुनाव बच्चे के वातावरण एवं स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। इस तरह की शिक्षण-प्रणाली का एक खास फायदा यह होता है कि शिक्षा तथा समाज का संबंध लगातार बना रहता है तथा बच्चों को सीखना कोई बोझ नहीं लगता। भारत जैसे एक गरीब देश के लिए सम्मेलन का चौथा यह प्रस्ताव बड़ा महत्वपूर्ण था कि इस तालीम के जरिये जो उत्पादक कार्य होंगे, उससे धीरे-धीरे शिक्षकों का खर्च निकल आएगा।

उत्पादक दस्तकारी के माध्यम से सिखाने का एक बड़ा मानसिक प्रभाव ये तो पड़ता ही है कि बच्चा शारीरिक श्रम को भी प्रतिष्ठित मानना शुरू कर देता है। अगर शिक्षा को हम एक बेहतर सामाजिक जीवन के साधन के रूप में देखते हैं तो करोड़ों लोगों द्वारा किए जाने वाले 'हाथ के काम' को शिक्षा के केन्द्र में रखना होगा। वरना 'समाजोपयोगी उत्पादक कार्य' को पाठ्यचर्या के हाशिये पर रखकर भ्रम ही पैदा किया जा सकता है, जैसा कि राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् बखूबी करता रहा है।

बुनियादी शिक्षा की समझ को हू-ब-हू वैसे ही रूप में सोचना- जैसा 1937 में सोचा गया था- इस शिक्षा पद्धति के मूल सिद्धांतों के साथ अन्याय होगा; क्योंकि उस समय भी इस सिद्धांत में यह मान्यता दी गई थी कि शिक्षण पद्धति का चुनाव वातावरण को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए और वातावरण को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला कारक 'समय' होता है। समय की नब्ज को पहचान कर, एक तर्क-संगत वैज्ञानिक शिक्षा पद्धति का विकास, समय-समय पर पनपने वाली समस्याओं से निजात पाने में हमारी मदद करती या नहीं; यह एक अलग सवाल है लेकिन वर्तमान शिक्षा व्यवस्था ने यह नहीं किया। फिर कौन से कारण थे जिनसे औपनिवेशिक शिक्षा-व्यवस्था जारी रही। इस सवाल को टोहने के लिए पहले हमें 'विमर्श' मात्र की प्रकृति को समझना होगा।

विमर्श की तकनीक, सामाजिक जड़ता और शिक्षा

'विमर्श की तकनीक' अपने आप में बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आकर व्यवस्थित अध्ययन की शाखा बनी। इसे एक निर्णायक मोड़ दिया मिशेल फुको ने, जब उन्होंने 'टेक्नोलॉजी ऑफ द सेल्फ' लिखी। इसमें उन्होंने विमर्श की आन्तरिक प्रकृति को जोरदार तरीके से उभारा। इस पूरी बहस ने जिस वैचारिक-संरचना को तैयार किया, वह उत्तर-संरचनावादियों और उत्तर-आधुनिकतावादियों की शरण स्थली बनी। विमर्श विचार-धाराओं की थाती न होकर अपनी स्वयं की दुनिया को रचने बुनने लगा। लेकिन इस तूफानी बदलाव में विचार के संदर्भों से जुड़ी 'सामाजिक जड़ता' ज्यों की त्यों बनी रही। इसलिए हम यहां विमर्श की तकनीक पर चर्चा करने से पूर्व 'सामाजिक जड़ता' पर एक नजर डालेंगे।

विज्ञान के संदर्भ में, जो जड़त्व का सिद्धांत हम देखते हैं वह समाज के संदर्भ में भी उतना ही सटीक बैठता है। वस्तु अपनी पूर्व-अवस्था को बनाये रखना चाहती है। यह मामला समाज की अधिकांश प्रक्रियाओं और संरचनाओं में देखने को मिलता है। मसलन परिवारवाद एक ऐसी ही सामाजिक संस्था है । ज्ञान शाखाओं के संदर्भ में बात करें तो देखते हैं कि हर विषय अपनी एक विशेष तरह की जड़ता को बनाये रखना चाहता है। परिवर्तन की कोई गुंजाइश तभी बनती है जब उस विषय शाखा या संरचना विशेष के बाहर से विचार आते हैं। जड़त्व का यह सामाजिक स्वरूप अपनी पूरी विकसित अवस्था में तभी दिखाई देता है, जब हम इसकी ऐतिहासिकता को पकड़ने की कोशिश करते हैं (जाहिर तौर पर इसमें वर्चस्व एक बड़ा कारण है)।

यहां पर विमर्श की तकनीक के संदर्भ में यह जानना जरूरी हो जाता है कि विमर्श की सामाजिक जड़ता क्या है और उसकी प्रकृति कैसी होती है ? इसके लिए हमें ऐतिहासिक विकास क्रम में से किसी एक प्रक्रिया (उदाहरण) का चुनाव करना होगा।

छपाई मशीन के आविष्कार को लेकर व्यापक विवाद देखने को मिल सकता है लेकिन, इस बात को लेकर बड़े पैमाने पर सहमति बनती दिखती है कि 1448 में जोहेन्स गुटेनबर्ग ने पहली बार मींज में एक छापाखाना की स्थापना की थी। जहां पर बड़े पैमाने पर बाइबिल की छपाई होती थी। जैसा कि अधिकांश तकनीक के साथ होता है- छपाई की तकनीक भी आरंभ में काफी मंहगी थी। नतीजा यह हुआ कि केवल वे चीजें ही छपीं जो बिक सकती

थीं। बावजूद इसके राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और वैज्ञानिक तबकों के बीच ये छपी हुयी किताबें एक अनिवार्यता समझी जाने लगीं। वे सूचनायें ज्यादा वैध समझी जाने लगी जो छपी हुई थीं। आश्चर्य की बात है कि छापाखाने का अविष्कार सूचनाओं के प्रसारण के लिए हुआ था जबकि ये सूचनाओं के मानकीकरण का काम करने लगी। सन 1500 तक विभिन्न किताबों के चालीस हजार संस्करण छप चुके थे। ये किताबें यूं तो यूरोप के चौदह देशों में फैली हुई थीं लेकिन, उसका दो-तिहाई हिस्सा जर्मनी और इटली की किताबें थीं। इन किताबों ने अपनी विषयवस्तु के तौर पर वहाँ की निहायत सामन्ती और वर्चस्वशाली मानसिकता का समावेश किया। इसी का नतीजा था कि बीसवीं सदी आते-आते इन पुस्तकों का 'जड़त्व प्रभाव' अपनी अभिव्यक्ति के शिखर पर था। वर्ग श्रेष्ठता के बोध को समाज में तह तक बिठाने में इन पुस्तकों के छापे जाने के इतिहास ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। छापाखाना ने छपे हुए शब्दों को जो वैधता और ताकत दी, वह उस ज्ञान पर तो भारी पड़ा ही जो जनसामन्य के दैनिक संघर्ष का हिस्सा था बल्कि, उससे कहीं आगे यह अपनी आरंभिक बाजारू प्रवृत्ति को इतिहास की तरह दर्ज कराने में भी सफल रहा।

छापाखाने के आविष्कार ने विचार और ज्ञान के सृजन की प्रक्रिया से जुड़े उन तमाम लोगों को लामबंद किया जो साक्षर थे। इन साक्षर लोगों में भी बहुत थोड़े से लोग ही सक्रियता से लिखने-पढ़ने के उपक्रम से जुड़े ही थे। लेकिन इस तकनीकी जुड़ाव की वजह से वे उन तमाम लोगों पर भारी पड़े, जो निरक्षर थे या यूं कहें कि इस तकनीक से जुड़ाव स्थापित नहीं कर पाये थे। नतीजतन ज्ञान का वह तमाम हिस्सा जो निरक्षर लोगों के संघर्ष का हिस्सा था, धीरे-धीरे इस तकनीकी दानावल के नीचे दबता चला गया। इस कमी को सांस्कृतिक तारतम्यता के जरिये भी पूरा करना संभव नहीं रहा। खास तौर से तब, जब इटली और जर्मनी में छपी पुस्तकों की भारी मात्रा के बाद (या यूं कहें उनके प्रभाव के चलते) बीसबीं शताब्दी में वहां पर नस्ली आंदोलन शुरू हुए। दरअसल तकनीक के आविष्कार ने विमर्श की प्रकृति को गहरे तरीके से प्रभावित किया।

इस पूरे ऐतिहासिक घटनाक्रम के संदर्भ में अगर हम बीसवीं शताब्दी पर एक बार फिर से दृष्टि डालें, तो पाते हैं कि एक नयी तकनीक ने विमर्श को फिर से एक नये सिरे से प्रभावित करना शुरू किया है, वह है- कम्प्यूटर। लेकिन इसके साथ ही हमें यह भी देखना होगा कि कम्प्यूटर का आगमन भी अपने आप में एक उसी तरह की सामाजिक मांग थी, जैसा कि छापाखाने का अविष्कार। कम्प्यूटर की तकनीक उस दौर में बनी, जब दुनिया भर में राजनैतिक उपनिवेशवाद समाप्त हो रहा था। यह स्थिति किसी भी तरह से उस वर्ग को रास नहीं आ सकती थी, जिसकी अपने साम्राज्य पर पकड़ कमजोर हो रही थी। यह एक तरह से 'सामाजिक जड़ता' के टूटने जैसी बात ही थी। कम्प्यूटर के विकास ने 1990 आते-आते वे स्थितियां पैदा कर दीं, जिसमें तीसरी दुनिया के देशों को नियंत्रित करने के लिए वहां भौतिक तौर पर उपस्थित होना जरूरी नहीं था (यही वह समय है, जब बहुचर्चित 'गेट - समझौता' हुआ जो कि विश्व पूंजीवाद के समक्ष आये एक बड़े संकट को कुछ समय के लिए टालने में कामयाब रहा)। कम्प्यूटर अकेले यह काम नहीं कर सकता था और न ही किया। उसे व्यापक पैमाने पर वैचारिक सहयोग भी मिला। 60 के दशक में ही विश्व स्तर पर ऐसे 'विमर्श' अस्तित्व में आने लगे, जो बाद के दिनों में उत्तर-आधुनिक विमर्श का आधार बने; मसलन- टॉमस एस कुन की किताब 'वैज्ञानिक क्रान्ति की संचरना' और ई. एच. कार की किताब 'इतिहास क्या है' इत्यादि। और यहीं से विमर्शकर्ता को वह नैतिक आधार मिला कि वे जब चाहें अपनी वैचारिक प्रतिबद्धताओं को बदल लें।

सामाजिक जड़ता की इस ऐतिहासिक पड़ताल के पीछे हमारा इरादा विमर्श की आन्तरिक प्रकृति पर तकनीक के दबाव की पड़ताल करना है, साथ ही साथ हमें यह भी देखना होगा कि विमर्श करते समय 'हम' ठीक-ठीक क्या कर रहे होते हैं या फिर जिस मानसिक प्रक्रिया को विमर्श कहा जाता है वह क्या होती है?

'भारत के अनाज गोदामों में लाखों टन अतिरिक्त अनाज है' - यह एक सूचना हुई। 'उत्तर प्रदेश में चार लोग भूख से मर गये'- यह भी एक सूचना हुई। लेकिन जब इन दोनों सूचनाओं को हम एक साथ रखते हैं तो यह एक विमर्श का रूप ले लेता है। ऐसी परिस्थिति में विमर्श का स्वरूप इस बात से खास तौर से प्रभावित होता है कि आप जिस समाज में रहते हैं, वहां किस प्रकार के तथ्य बाद में सूचनाओं का रूप लेते हैं और वह कौन सी प्रक्रिया है, जो किसी तथ्य को सूचना बनाती है। सूचनाओं के प्रवाह को पकड़े बगैर विमर्श को नहीं समझा जा सकता। क्योंकि, यह बात भले ही सामान्य लगे, लेकिन किसी भी तरह के विमर्श की बुनियादी प्रकृति यही है कि इसमें हम दो या अधिक सूचनाओं को एक साथ रखते हैं। विमर्श को हम भले ही कई तरीकों में विभाजित कर लें, लेकिन 'सूचनाओं की सजावट'उसमें एक अहम भूमिका अदा करती है। आगे बढ़ने से पहले विमर्श की प्रचलित तकनीकों पर एक नजर डालें तो स्थिति और ज्यादा साफ होगी।

विमर्श का सबसे ज्यादा प्रचलित तरीका है- सूचनाओं की तुलना करना। आम तौर पर इस तरीके का इस्तेमाल समाजशास्त्रीय अध्ययनों में किया जाता है। आन्द्रे बेते (2001) जैसे समाजशास्त्री बेशक इन तरीकों को आम आदमी द्वारा किये जाने वाली तुलना

से अलग बतायें, लेकिन प्रकृति के लिहाज से आम आदमी द्वारा की जाने वाली तुलना और एक समाजशास्त्री द्वारा की जाने वाली तुलना में कोई फर्क नहीं होता । इसके विपरीत अगर हम विषयवस्तु-विश्लेषण का जिक्र करें तो यह भी एक सूचना विशेष को किसी वैचारिक परिदृश्य में जांचने का प्रयास करना है और यह वैचारिक परिदृश्य कुछ वर्गीकृत सूचनाओं के समूह से बनता है। वह वैचारिक तकनीक ज्यादा महत्वपूर्ण मान ली जाती है, जिसके जरिये हम किसी बड़ी विचारधारा से अपने विमर्श को जोड़ रहे होते हैं। ('समानता' एक ऐसी ही विचारधारा है। भले ही इसके रूप कई तरह के हों- लैंगिक समानता, आर्थिक समानता, जातिगत समानता इत्यादि)।

विमर्श की एक अन्य प्रचलित तकनीक है- विचारों का सर्वव्यापीकरण या फिर अमूर्तिकरण। ऐसी स्थिति में हम कुछ सूचनाओं को आधार बनाकर एक सर्वव्यापक मानक तैयार करने की कोशिश करते हैं। यह अमूर्तिकरण की प्रक्रिया उस व्यापक अनुभव जगत के मध्य होती है, जो अब तक की बटोरी गई तमाम सूचनाओं से बनी होती है। कई बार हम सर्वव्यापीकरण की इस प्रक्रिया विशेष को 'विषय' नाम दे देते हैं। मसलन- इतिहास का अध्ययन किसी व्यक्ति को इतिहासकार बनाता है। उसके बाद वह व्यक्ति अपनी क्षमता के मुताबिक किन्हीं नये तथ्यों से इतिहास में कुछ नये अध्याय जोड़ता है, या फिर किन्हीं अध्याय विशेषों को एक दूसरी तरह की व्याख्या प्रदान करता है।

शिक्षा के बारे में घनघोर 'व्यवस्थित विमर्श' से अलग हट कर देखें तो पाते हैं कि जीवन अपने आप में जिस तरह की रचना करता है अपने इरादों और संरचनाओं के बीच वह कहीं ज्यादा कारगर होता है। थॉमस अल्वा एडीसन ने जिन्दगी में जिन तकनीकों को ईजाद किया, उन्होंने उसे किसी स्कूल में नहीं, बल्कि जिंदगी की जद्दो-जेहद में, रेलगाड़ी के डिब्बे और प्लेटफार्म पर अखबार और चाय बेचते हुए सीखा। मॅक्सिम गोर्की के विश्वविद्यालय भी कभी ओल्गा के बहने वाले जहाज बने तो कभी किसी गांव के परचून की दुकान। जाहिर है कि जिन्दगी जिस बड़ी शिक्षा-व्यवस्था का सृजन करती है, संस्थायी शिक्षा किसी भी तरह से उससे बढ़कर नहीं हो सकती।

अगर हम विमर्श की इन तकनीकों में एक पैर्टन पकड़ने की कोशिश करें, तो पाते हैं कि विमर्श सूचनाओं की सजावट का नाम है। जाहिर है ऐसी स्थिति में विमर्श की तकनीक को आप सूचना की तकनीक से अलग रख कर नहीं देख सकते हैं। छापाखाना और कम्प्यूटर के उदाहरण ये बताते हैं कि सूचना का रख-रखाव, प्रसारण और उत्पादन एक तरह की सामाजिक जड़ता के बीच में ही होता है। ऐसी स्थिति में विमर्श की तकनीक भी इस प्रकार की सामाजिक जड़ता से अलग नहीं रह सकती है। कई बार हम जिन विचारों को प्रगतिशील विचार या परिवर्तनकारी मानते हैं, वह निकाय की भीतरी गतिकी का परिणाम मात्र होते हैं, जिसका कोई भी असर इस 'जड़त्व' पर नहीं होता। इस प्रक्रिया के इतर भी कई अन्य तरीके विमर्श का हिस्सा बनते हैं; मसलन- न्यूटन का सेब को गिरते हुये देखना या आर्कमडीज का टब में अपने वजन को कम होते हुये महसूस करना। इन दोनों ही वैचारिक प्रक्रियाओं में अन्वेषण की तकनीक का इस्तेमाल किया गया है। अन्वेषण एक ऐसी तकनीक है, जो काफी हद तक अपने इर्द-गिर्द मौजूद सामाजिक जड़ता से अलग हट कर विमर्श करने की इजाजत देती है। लेकिन यह एक विडम्बना ही है कि कोई भी अन्वेषण तब तक विमर्श का हिस्सा नहीं बनता जब तक वह पहले से मौजूद तकनीक (मुख्यत: भाषा) के जरिए संप्रेषित न किया जाये।

उपरोक्त विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि विमर्श (ज्ञान) की तमाम प्रक्रिया सूचनाओं पर निर्भर करती है और सूचनाओं की अपनी गति की वर्चस्व की राजनीति का ही एक हिस्सा होती है। इस विरोधाभास को साधने के लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम उन प्रक्रियाओं का मुआयना करें, जो शिक्षा के लिए बनाई गई संस्थाओं के बाहर ज्ञान का सृजन करती हैं और एक वृहतर समुदाय के जीने का आधार बनती हैं ।

अनुभव ज्ञान और राजनीति

ज्ञान का सृजन सामाजिक अनुभवों के मध्य कैसे होता है तथा इनको कौन-कौन सी प्रक्रियायें नियंत्रित करती हैं, इसे समझने के लिए हमें उन प्रक्रियाओं को देखना होगा जिसका जुड़ाव एक बृहतर कामगर और वंचित तबके से है।

जून 1995 और मई 1996 में जहांगीरपुरी में शिक्षाविदों, अध्यापकों, स्कूली प्रशासकों और समुदायों के लोगों की कई बैठकें हुई। इन्हीं बैठकों में कई ऐसे सवाल उभरे, जिनमें शिक्षा की प्रक्रिया के साथ स्थानीय आवश्यकता का तालमेल बिठाने पर बल दिया गया। लेकिन शिक्षा में सदियों से चली आ रही ब्राह्मणवादी जड़ता को जबरदस्त चुनौती अचानक तब मिली, जब वहां मौजूद एक महिला ने कहा कि 'क्या ऐसा नहीं हो सकता कि आप हमारे बच्चों को फैक्टरियों में पढ़ायें ।[9] ठीक इसी समय दिल्ली में ही एक शिक्षण कार्यक्रम की रूप रेखा बनायी जा रही थी जो एक बार फिर से ज्ञान के स्थापित ढाँचों को और ज्यादा

ठीक से पढ़ाये जाने के दर्शन को केन्द्र में रख रही थी न कि इस 'परम्परागत जड़ता' को बदलने की आवश्यकता को।[10]

जहांगीरपुरी के पूर्वी भाग में एक बड़ा तालाब है जहां दिल्ली के कई हिस्सों से लाकर कूड़ा फेंका जाता रहा है। इस कूड़े के ढेरों पर बस्ती के कई बच्चे सुबह-सुबह अपनी-अपनी बोरियां लेकर आ जाते हैं। उसमें से काम की चीजें छाँटने से लेकर, उसे सी-डी ब्लॉक के बीच वाले कबाड़ियों की दुकान तक ले जाकर बेचना उनकी मुख्य दिनचर्या है। यहां कूड़े में से काम की चीजें निकाल कर बेचने का 'ज्ञान', उनको जिन्दगी तो देता है लेकिन यह समूची प्रक्रिया हमारे शिक्षायी विमर्श का हिस्सा नहीं होती। न तो दिल्ली की कोई शिक्षायी योजनायें बच्चों के इस ज्ञान पर काम करती हैं न ही यहां स्थित शिक्षण प्रशिक्षण संस्थायें ऐसे बच्चों के संघर्षों को ध्यान में रखकर अपनी शिक्षण प्रक्रिया तय करते हैं और न ही सीबीएससी जैसी कोई संस्था उनके ज्ञान को पहचान कर प्रमाण पत्र देती है।[11]

इन्द्रलोक में चमड़े के बटुये बनाने के कई कारखाने हैं। यहां मजदूर दिन भर में 150-200 रुपये कमा लेते हैं। (जबकि दिल्ली मैट्रो जो एक बहुराष्ट्रीय निकाय है, अपने यहां काम कर रहे मजदूरों को 99.65 रुपये देता है (और इन मजदूरों को (14+2) रुपये काट कर 85 रुपये की मजदूरी मिलती है)। इन्द्रलोक के कारखाने के एक मजूदर ने बातचीत में बताया कि वह काफी कम उम्र में चमड़े के बटुए बनाना सीख गया था। वह अपने बच्चे के स्कूल का फार्म दूसरे से भरवाता है। बटुआ बनाने का यह हुनर जो उसे एक दूसरे तरह के मजदूर की बजाय बेहतर पहचान देता है। वह उसे अपने बच्चे को नहीं सिखाना चाहता है। उसे पता नहीं है कि इस चमड़े के व्यवसाय में आगे कैसे निकला जाता है, क्योंकि जानकारी के तमाम स्रोत विश्वविद्यालयों या शिक्षायी संस्थानों में न होकर उन मालिकों के पास है, जिनके लिये वे काम करते हैं। दूसरी ओर हमारे शिक्षायी संस्थानों के लिए चमड़े का सामान बनाना महज एक कौशल है, जिसका कोई ऐतिहासिक, सामाजिक, भाषाई और सांस्कृतिक महत्व नहीं बनता है।

इसी तरह बनारस के एक मजदूर कारीगर और एक उद्यमी से बात हुई।[13] वहां बनारसी साड़ी बनाने वाले छोटे उद्यमी अब बच्चों को अपने यहां मुख्य काम में लगाना पसन्द नहीं करते हैं। ये बच्चे सामान ले-आने, ले-जाने, इत्यादि काम करते हैं। लेकिन मुख्य काम नहीं, ऐसा क्यों? ''बीस हजार रुपये जुर्माना देना हमारे वश का नहीं है''(बाल मजदूरी कराने वालों पर सर्वोच्च न्यायालय का जुर्माना) ऐसा एक उद्यमी का कहना है। ये बच्चे क्या कर रहे हैं? कहां हैं वे? क्या वे स्कूल में उस काम को सीख पाते हैं जो इनके जीविकोपार्जन का सदियों से आधार रहा है? राजघाट से दो किलोमीटर की दूरी पर वरुणा नदी पार करके आप एक ऐसे गांव में होते हैं जहां अधिकांश आबादी बुनकरों की है। वहां के बच्चे उस गांव में बने एक स्कूल में पढ़ने आते हैं। यह स्कूल न तो पाठ्यक्रम की दृष्टि से इन बच्चों से कोई ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तारतम्यता बिठा पाता है, और न ही शिक्षण के तरीकों की दृष्टि से। क्या हमारे शिक्षण प्रशिक्षण संस्थान इस तरह के बच्चों को पढ़ाने के लिए प्रशिक्षुओं को किसी तरह का विशेष प्रशिक्षण देते हैं ? इस संदर्भ में एक प्रशिक्षु शिक्षिका से बात हुई। जो बुनकरों के बच्चों के स्कूल में पढ़ाने के लिये गयी थी। वहां पढ़ा रहे प्रशिक्षु शिक्षकों को शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान इस परिस्थिति विशेष से जूझने के लिए कतई तैयार नहीं करते हैं।[14] अगर सर्वोच्च न्यायालय बच्चों को उद्यमी के यहां जाने से रोक रहा है, तो क्या वह उस 'ज्ञान' से बेहतर दर्जे का कोई 'ज्ञान' इन बच्चों को सिखाने की व्यवस्था कर रहा है, या इस छूट रहे ज्ञान की किसी तरह से भरपाई कर रहा है?

ज्ञान की राजनीति का 'विकास के ढाँचे' से गहरा सरोकार है। इसलिए मानकीकृत विकास के ढांचे से जुड़ी हुई बातें ही ज्ञान का दर्जा पाती हैं। मणिवेली (अगस्त 1996) में एक बैठक हुई 'जीवन शाला' के संदर्भ में। 'जीवन शाला' सरदार सरोवर में डूब चुके गांव से विस्थापित हुए बच्चों की शिक्षा के लिए बनाये गये स्कूलों का नाम है। 'क्या पढ़ाया जाये' यह सवाल 'जीवन शाला' बैठक में उठा। लेकिन ज्ञान की खोज करने पर पता चला कि वह 'डूब चुका है।'वहां के एक आदिवासी ने उस बैठक में एक बात कही कि- 'यह पेड़ आपके लिए सिर्फ पेड़ है। मेरे लिए मेरा ज्ञान शास्त्र है।' दरअसल हाशिये के लोगों का अनुभव कभी ज्ञान नहीं बन पाता है।[15]

अब यहां एक महत्वपूर्ण सवाल यह है कि हम (अकादमिक जगत के वे लोग जो शिक्षा के लिए विशेष तौर से बनाई गई संस्थाओं के जरिये ही शिक्षा देने की बात करते हैं) उन्हें (बृहत्तर कामगर तबका जो अकादमिक संरचना की वजह से वंचित स्थित में है) अपने तरीकों से सिखायें या उनके सीखने के तरीकों के बीच अपने ज्ञान को तलाशें? पिछले कई वर्षों से 'साक्षरता' जिस तरह का अभियान बना है, उसमें इस कामगर तबके को अपने ज्ञान संरचना तक लाने की एक कुलीन जिद मात्र है, वह भी अक्षरों की दुनिया को उनके (निरक्षर समाज) लायक बनाये बगैर।[16] दरअसल हम एक तरह की अकादमिक जड़ता के बीच काम कर रहे हैं। जहां ज्ञान की तमाम शाखायें उस नींव पर ही बनी और विकसित हुई हैं, जिनका निर्माण वर्चस्व को स्थापित करने वाली ऐतिहासिक प्रक्रियाओं ने किया है। ज्ञान का यह ढाँचा असमानता के सृजन का

एक बड़ा कारण है। शिक्षा में होने वाले नवप्रयोग वर्चस्व की इस भुतही इमारत पर रंगरोगन मात्र है, जबकि इमारत के पूरे ढांचे को ही बदलने की जरूरत है।

शिक्षा का अधिकार अगर मौलिक अधिकार है तो 'शिक्षा' की परिभाषा को काफी सोच समझ कर तय करना होगा। इसकी विषय वस्तु को जड़ता से मुक्त कराने के लिए जरूरी हो जाता है कि हम नये साधनों को अपनी कोशिशों के केन्द्र में लायें।

तरीका और तालीम

शिक्षा की बात अगर आप एक परिवर्तनशील समाज और उसकी वैचारिक प्रक्रिया के संदर्भ में करते हैं, तो इस बात का प्रयास लगातार करते रहना होगा कि वह अपने आपको संप्रेषण के तरीकों और विषय-वस्तु की बुनियाद, दोनों ही ओर से सामाजिक जड़ता से मुक्त करा सके। इसलिए न सिर्फ संप्रेषण की संरचना को विषय वस्तु के स्तर पर बदलने की बात करनी होगी, बल्कि उससे कहीं आगे बढ़कर उन तरीकों पर भी गौर करना होगा जिनके जरिये हम सूचना के प्रसारण की बात करते हैं। यहां पर एक बार फिर से हम छापाखाना और कम्प्यूटर की अपनी पूर्व बहस के आधार पर कहें कि संप्रेषण की तकनीक लगभग यह तय कर देती है कि क्या संप्रेषित हो ।

जब शिक्षा की प्रचलित प्रणाली पर बात करते हैं, तो पाते हैं कि इस प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने में भाषा की अहम भूमिका होती है। भाषा का विकास भी उस राजनीति से अलग नहीं रह पाता है, जिसका जिक्र हमने छापा-खाना के संदर्भ में किया। नतीजा यह होता है कि समाज में 'सूचना' की जो संरचना तैयार होती है उसमें उस वर्ग विशेष की ज्यादा बड़ी भूमिका होती है, जिसकी पकड़ ऐसी तकनीकों पर हो, जिनके जरिये भाषा का विकास होता है। ऐसी स्थिति में भाषा, वर्चस्व की वृहत्तर तकनीक के एक उपकरण की भूमिका निभाती है। इसके बावजूद अगर हम भाषा को तलीम की तकनीक के तौर पर इस्तेमाल करते हैं, तो शुरूआती दौर से ही यह अपने बुनियादी इरादों से हटने लग जाती है।

भाषा के तर्कशास्त्र से अलग हटकर- शिक्षा कैसी हो- इसके व्यवस्थित उदाहरण काफी कम मिलते हैं। बुनियादी-शिक्षा, इस दिशा में एक बड़ा और सार्थक प्रयास था। हाथ से काम और उसके जरिये शिक्षा की पूरी प्रक्रिया ज्ञान की प्रकृति तक को बदलती थी। यहां व्यापक पैमाने पर इस बात को महत्व दिया गया कि ज्ञान का एकमात्र स्वरूप मानसिक प्रक्रियायें नहीं हैं, और न ही ज्ञान अपने संप्रेषण के लिए भाषा की तकनीक का गुलाम है। वर्षों से चली आ रही 'ब्राह्मणवादी सामाजिक जड़ता' पर बुनियादी शिक्षा एक जबरदस्त प्रहार करती थी। ज्ञान के संचार की तकनीक जैसे ही भाषा से हटकर किसी हथकरघा पर टिकी, वैसे ही ज्ञान के साथ लम्बे समय से चली आ रही एक रूढ़िवादी जड़ता टूटी। लेकिन यह पूरा प्रयास उस विराट ऐतिहासिक 'जड़ता' को हटने के लिए नाकाफी था। बावजूद इसके यह प्रक्रिया चेतना की एक नयी कड़ी जोड़ने में कामयाब रही।

इस प्रयोग की पड़ताल से कई बातें सामने आती हैं। पहली - तालीम का तरीका क्या हो, यह प्रक्रिया अपनी प्रकृति के मुताबिक तय कर देती है कि ज्ञान किसे कहा जाय। दूसरी बात यह कि ज्ञान किस वर्ग के लिए हो, यह इस बात पर निर्भर करता है कि इसका संप्रेषण किस तकनीक के जरिये किया जा रहा है, तीसरी-समाज की जड़ता और ज्ञान की जड़ता साथ-साथ टूटती है। चौथी- नई शिक्षण-तकनीक और संरचना अगर पुरानी जड़ता को तोड़ती है तो पुरानी जड़ता भी इस नयेपन को फिर से जड़ बनाने का प्रयास करती है। और अन्तत: पांचवीं बात यह है कि कोई भी नयी संस्थायी व्यवस्था कितनी कारगर है, यह इस बात पर निर्भर करती है कि वह पुरानी जड़ता को किस हद तक मिटा पाने में कामयाब रही है।

शिक्षा के बारे में घनघोर 'व्यवस्थित विमर्श' से अलग हट कर देखें तो पाते हैं कि जीवन अपने आप में जिस तरह की रचना करता है, अपने इरादों और संरचनाओं के बीच वह कहीं ज्यादा कारगर होता है। थॉमस अल्वा एडीसन ने अपनी जिन्दगी में जिन तकनीकों को ईजाद किया, उसे किसी स्कूल में नहीं, बल्कि जिंदगी की जद्दो-जेहद में, रेलगाड़ी के डिब्बे और प्लेटफार्म पर अखबार और चाय बेचते हुए सीखा। मॅक्सिम गोर्की के विश्वविद्यालय भी कभी वोल्गा के बहने वाले जहाज बने तो कभी किसी गांव के परचून की दुकान। जाहिर है कि जिन्दगी जिस बड़ी शिक्षा-व्यवस्था का सृजन करती है, संस्थायी शिक्षा किसी भी तरह से उससे बढ़कर नहीं हो सकती। इसी तर्क पर बढ़ते हुए ईवान इलीच जैसे चिंतकों ने स्कूलीकरण से मुक्ति की बात चलायी थी। क्योंकि एक तरफ तो ये 'स्कूल' एक जड़ तकनीक का प्रयोग करते हैं और दूसरी ओर वैसे किसी भी तकनीक का निरुत्साहित करते हैं जो इसकी जड़ता पर प्रहार करे । वरना क्या कारण है कि स्कूली-व्यवस्था का सारा जोर 'शब्दों' को संज्ञान क्षेत्र में लाने मात्र का होता है, जबकि 'शब्दों' का कोई भी मूर्त रूप नहीं बन पाता है।

पॉउलो फ्रेरे ने ज्ञान की प्रकृति पर बात करते हुए अपनी पुस्तक 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' में कहा है- ''शब्द के दो आयाम होते हैं, चिन्तन और कर्म । ये दोनों, शब्द के अंदर ऐसी आमूल-परिवर्तनवादी अन्योन्यक्रिया में रहते हैं कि इनमें से एक को

अंशत: भी त्यागा जाये तो दूसरा तुरंत क्षतिग्रस्त हो जाता है।'' इस वैचारिक आधार पर अगर हम वर्तमान शिक्षा और उसमें अपनायी जाने वाली तकनीक पर गौर करें तो पाते हैं कि उनमें 'कर्म' की जड़ से उपेक्षा की गई है। नतीजतन शिक्षा की तमाम प्रक्रिया शब्दाडंबर बनकर रह जाती है। उसके बरअक्स दूसरी तरफ अपनी जिन्दगी में हर रोज लाखों-करोड़ों की तादाद में 'घरेलू महिलायें' अपने उत्पीड़न और उपेक्षा की स्थिति को नित्य महसूस तो करती हैं, लेकिन इस एहसास को किसी भी तरह से वे अपने संघर्ष का आधार नहीं बना पाती हैं। कारण साफ है- अपने इस अहसास को व्यापक रूप देने के लिए उनके पास संप्रेषण की कोई तकनीक नहीं है। यह मामला 'तकलीफ' के भाषायी रूपान्तरण मात्र का नहीं है, बल्कि उसे भी आगे बढ़कर यह सवाल तकनीक की सामाजिक उपस्थिति से जुड़ता है। घरेलू महिलाओं, मजदूरों और किसानों की तकलीफ जिस प्रकृति की होती है, वह उन बाजारवादी तकनीकों से संप्रेषित नहीं हो सकती, जिनका विकास एक अभिजन-दबाव के मध्य हुआ हो ।

शिक्षा किन सामाजिक दबावों के बीच पनपती है; यह जानने के लिए हमें उसकी संस्थायी तकनीक और शिक्षा के 'तरीकों' में फर्क करना होगा। इसे समझने के लिए हम एक बार फिर से बुनियादी तालीम पर एक नजर डालते हैं। बुनियादी तालीम में जिस हस्तशिल्प की बात की गयी थी; वह एक तकनीक थी। ऐसी तकनीक, जिसका आधार हस्तशिल्प हो, शब्द नहीं। उसमें इस बात की गुंजाइश ज्यादा बनती है कि वह समाज के वृहत्तर वर्ग की तकलीफों को शिक्षा के विभिन्न फलकों के साथ जोड़ पाये। मसलन- अगर हम किसी हस्तशिल्प जैसे 'खेतों' के जरिये शिक्षा दें, तो एक तरफ हम उन सामाजिक स्थितियों पर विमर्श कर रहे होंगे, जो एक बड़े वर्ग की उपेक्षा का कारण बनता है और दूसरी ओर यह स्थिति एक ऐसा सामाजिक दबाव बनाने में भी कामयाब रहेगी, जहां हम नयी तकनीकों का इजाद कर रहे होंगे।

आश्चर्य की बात यह है कि इस तरह की शैक्षणिक संरचनाओं पर बात करते समय बहुधा यह मान लिया जाता है कि इसमें 'प्राकृतिक विज्ञान' और गणित जैसे विषयों के वर्तमान विकास को नकारा जा रहा है, लेकिन न सिर्फ यह एक गलतफहमी है बल्कि यही वह स्थिति है, जहां विषय अपने अकादमिक स्वरूप को त्यागते हैं और शिक्षा संस्थाओं की चाहरदीवारी को ढाहते हुए जिन्दगी में रचते-बसते हैं। स्कूलों के अन्दर ज्ञान के विकास से ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि कि स्कूल से बाहर जो कुछ हो रहा है, उसकी तकनीक को पकड़ा जाये और हो सके तो उसे हमारे व्यवस्थित विमर्श का हिस्सा बनाया जाय। ◆

संदर्भ सूची

1. Sadgopal Anil, Political Economy of The Ninty third Amandemnt Bill; *Mainstream*, Dec 22, 2001.
2. National Human Rights commission's Order upon Case No. 3045/30/2001-2002.
3. See Kumar Krishna, Listening to Gandhi, *Seminars*, No. 436 Dec. 95, Delhi.
4. Apple Michael W., *Education and Power;* Routledge & Kgan, Boston, 1982, (page1-37).
5. कुमार कृष्ण, राज्य बाजार और शिक्षा, (अजय कुमार सिंह के साथ बातचीत), *शिक्षा विमर्श*, जून 2000 जयपुर।
6. कुमार कृष्ण, पाठ्यक्रम और नया समाज, 1983, नया शिक्षक।
7. वर्धा शिक्षा सम्मेलन की रपट, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद (1956) पर आधारित ।
8. *The New Encyclopaedia of Britannica,* Vol-14 (page 1051-1096) Chicago, 1984.
9. स्कूल बस्ती कार्यशाला रपट (मई 3-5, 1996) आई.ए.एस.ई. शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 1996।
10. B. El. Ed. Hand Book. MACESE- Department of Education , University of Delhi (2001)
11. मई-अगस्त 1996 में शोधकर्ता द्वारा किये गये फील्ड सर्वे के आधार पर 1996 (सिंह अजय कुमार, कुलीन वर्गों के लिए शिक्षा, *जनसत्ता* 17 सितम्बर 1997 दिल्ली।
12. चमड़े का बटुआ बनाने वाले वाले एक मजदूर (असगर) से शोधकर्ता की बातचीत (फरवरी-मार्च 2002) के आधार पर ।
13. शोधकर्ता द्वारा अक्टूबर-नवम्बर 1998, लोक-विद्या सम्मेलन में आये बनारसी साड़ी बनाने वाले बुनकर से बातचीत के आधार पर (1998)
14. बसंता कॉलेज, सन् 2000-2001 की एक प्रशिक्षु- शिक्षिका, (विनीता) से बातचीत के आधार पर ।
    (See also Kumar, Nita- Lesons From School, *The History of Education in Banaras,* Sage Publication, New Delhi-2000)
15. मणिवेली विस्थापित बच्चों की शिक्षा हेतु 'जीवनशाला' कार्यशाला में दिये गये एक आदिवासी का वक्तव्य (1996)
16. कुमार कृष्ण, निरक्षरों पर महाभियोग, *नवभारत टाइम्स,* दिल्ली (1995)